JETIR.ORG ISSN: 2349-5162 | ESTD Year : 2014 | Monthly Issue
JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)
An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

भारत में पंचायतराज व्यवस्था : उद्भव एवं विकास

रत्नेश सिंह,

शोध छात्र, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर, उ.प्र.।

प्रो. दिग्विजय नाथ पाण्डेय,

शोध निर्देशक एवं प्राचार्य, जवाहरलाल नेहरू पी.जी. कॉलेज, महाराजगंज (उ.प्र.)

सारांश

आज के प्रगतिशील एवं प्रतिस्पर्धी युग में पंचायतों से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से हैं, जो पंच परमेश्वर न होकर आम लोगों से चुने गए प्रतिनिधि हैं और जिसकी सोच तथा भूमिका ऐसे प्रत्येक कार्यों से जुड़ी है जो गाँवों को राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा से जोड़ दे। परंतु प्राचीन काल में पंचायतों का यह स्वरूप नहीं था। भारत में पंचायतों का एक लम्बा इतिहास रहा है। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार भारत में पंचायतों का स्वरूप अलग–अलग रहा है। ऋग्वैदिक काल, वैदिककाल, मनुस्मृति, महाकाव्यकाल और बौद्धकाल, मौर्य एवं गुप्तकाल, मुगलकाल और ब्रिटिश काल में पंचायतों का जो स्वरूप उभरकर आया उसी का संश्लेषण स्वतंत्रता के बाद और पुनः संविधान सभा के निर्माण के दौरान पंचायतों के गठन एवं उसके अधिकारों को लेकर जो बहस हुई, उसमें परिलक्षित हुआ। परिणामस्वरूप संविधान के प्रथमतः अनुच्छेद 31 (3) के रूप में पंचायतों को स्थान दिया गया जो परिवर्तित होकर अनुच्छेद 40 के तहत नीति–निर्देशक तत्व में शामिल है।

भारत में आज पंचायतीराज व्यवस्था का जो विशाल, विस्तृत एवं सुनियोजित स्वरूप दिखाई देता है उसका वास्तविक श्रेय सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विकास सेवा के अध्ययन दल को जाता है जिसके अध्यक्ष बलवंतराय मेहता थे। स्थानीय शासन के विकास में इस समिति ने व्यापक एवं आधारभूत सुधार किए। 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के पूर्व भारत में पंचायतीराज व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण एवं जनोपयोगी बनाने हेतु अनेक समितियों ने अपने सुझाव दिए। अंततः 1992 में पारित संविधान संशोधन द्वारा भारत में पंचायतीराज व्यवस्था को संवैधानिक प्रतिष्ठा प्राप्त

हो गया जिसके अनुकूल राज्यों ने इस व्यवस्था को अंगीकार कर स्थानीय शासन में आम जनता की भागीदारी सुनिश्चित की है जो सच्चे लोकतंत्र की प्रतिस्थापना करता है।

परिचय

भारत में प्राचीन काल से ही पंचायत शब्द प्रचलन में रहा है क्योंकि तब आम जनता अपनी समस्याओं को लेकर एक निश्चित स्थान पर एकत्र होते थे तथा समस्याओं के निराकरण हेतु विचार–विमर्श करते थे। भारत के प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों में पंचायत या पंचायती शब्दों को परिभाषित किया गया है। इसके अनुसार, पंचायती शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द 'पंचायतन' से हुई है जिसका अर्थ है, 'पांच व्यक्तियों का समूह'।[1] यदि शाब्दिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो पंचायतीराज शब्द, दो शब्दों पंचायत और राज से मिलकर बना है जिसका अर्थ है – पांच जनप्रतिनिधियों के समूह का शासन – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा पांचवां परमेश्वर।[2] ऋग्वेद में पंचायत के स्वरूप उसकी ऋचाओं में देखने को मिलता है जिसकी एक सूक्ति में लिखा गया है कि समानी वा आकूतिः समाना हृदयानी व समानम अस्तु वो मनों यथा व सुसह्यसति।। 4।। अर्थात् तुम्हारा संकल्प एक समान रहे और हृदय एक विध – एक समान हो। एक समान हो, जिससे परस्पर कार्य पूर्ण रूप से संगठित हो।[3] इस प्रकार प्राचीन काल में लोग आपस में मिलकर कार्यों का संपादन करते थे जो नागरिक संगठन की आधारभूत इकाई थी।

इसी प्रकार वैदिककालीन साहित्य में पंचायतों का स्वरूप सभा और समितियों के उल्लेख के साथ मिलता है। देखा जाय तो वैदिक काल में महासभाएं थी और ग्राम के संपूर्ण जनसमूह की सभा को 'महासभा' कहा जाता था। संपूर्ण ग्राम का एक मुखिया या नेता होता था जो 'ग्रामीणी' कहलाता था। वेदों में महासभा या समिति को 'विस' कहा गया है। इस समिति का एक कार्य राजा का चुनाव भी हुआ करता था।[4] मनुस्मृति के अनुसार गाँव के अधिकारी को 'ग्रामिक' कहते थे। उसका कार्य कर आदि वसूली करना था। इसी प्रकार 20 गाँव पर एक कर्मचारी को 'विशाधिप', 100 गाँव के ऊपर एक कर्मचारी को 'रातपाल' तथा 1000 गाँव के ऊपर के कर्मचारी को 'सहस्रपति' कहा जाता था जो स्थानीय कार्यकलाप, प्रशासन एवं न्याय संबंधी कार्यों को देखते थे।[5]

महाभारत के शांतिपर्व में भीष्मपितामह, युधिष्ठिर को प्रजा के प्रतिनिधियों की एक शासन सभा बनाने का उपदेश दे रहे हैं जिसमें चार स्नातक ब्राह्मण, युद्ध विद्या में निपुण आठ क्षत्रिय, पवित्र गुणों से संपन्न तीन शूद्र, इक्कीस वैश्य और उच्च विचारों वाले पचास वर्षों के एक सूत्र को रखने

का परामर्श दिया गया है। इस प्रकार महाभारत में 'एक ग्राम सभा' का संदर्भ है। दक्षिण भारत के (प्राचीन काल में) इतिहास में ग्राम संगठन के संबंध में 'महाभारत' का उल्लेख मिलता है। उत्तर मटलूर के बैकूंठ तथा पेरूमल मंदिर से प्राप्त शिलालेखों में न्याय समिति, तालाब समिति, उद्यान समिति इत्यादि विभिन्न समितियों का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट है कि उस समय पंचायतों का शासन समितियों या उप समितियों के माध्यम से संचालित होता था।[6]

बौद्धकाल में पंचायतों के बारे में जातक कथाओं से पता चलता है कि ग्राम के शासक को ग्राम भोजक कहा जाता था। सभा ग्राम संगठन का एक मनोरंजक और महत्वपूर्ण अंग थी, जिसमें ग्राम के वृद्ध बैठते थे, जो कुटुम्ब के सबसे बड़े–बूढ़े हुआ करते थे। उस समय ग्राम सभा के मुख्य कार्य थे – न्याय करना, गाँव की आंतरिक सुरक्षा, सरकारी मकान, घाट, मंदिर, तालाब, कुएं बनवाना, कर वसूल करना, शिक्षा इत्यादि।[7] इसीप्रकार कौटिल्य के समय तक पंचायत के कार्य–क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो चुका था। कौटिल्य ने अपनी सुप्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र में 'ग्रामिक' का उल्लेख किया है। ग्राम के प्रमुख को ग्रामिक कहा जाता था। कौटिल्य के अनुसार गाँव के प्रशासन में ग्राम प्रमुख की मुख्य भूमिका होती थी। गाँव की सुरक्षा करना, सरकारी आगम की वसूली, गाँव की जमीन के हस्तांतरण एवं अधिकार से संबंधित कागजात/दस्तावेज रखना गाँव प्रमुख का मुख्य कार्य था।[8] चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने वाले मेगास्थनीज के यात्रा वृतांत से उस समय के नगर प्रशासन तथा ग्राम प्रशासन पर प्रकाश पड़ता है। नगरों का प्रशासन भी पंचायत प्रणाली जैसा ही होता था। तत्कालीन पाटलीपुत्र का प्रशासन उस समय के विकेन्द्रित प्रशासन का सूचक था।[9]

गुप्तकालीन व्यवस्था में भी ग्राम पंचायतों का अधिक महत्व था। यद्यपि उस समय राजवंशी व्यवस्था थी तथापित शासन का विकेन्द्रीकरण विभिन्न स्तरों पर पाया जाता था। ग्रामीण मामलों के प्रबंधन हेतु एक पदसोपानिक पंचायती व्यवस्था विद्यमान थी। 10 गाँवों के गुट को संग्रहण, 200 गाँवों को मिलाकर खरवातिक, 400 गाँवों के समूह को द्रोणमुख तथा 800 गाँवों के समूह को महाग्राम कहा जाता था। महाग्राम के पश्चात् जनपद होता था। इसके मुखिया को स्थानिक कहा जाता था। गाँवों की भांति नगरों के प्रबंध की व्यवस्था थी। इनका अधिकारी नागरिक कहलाता था जो गोप एवं स्थानिक की सहायता से प्रशासन चलाता था। इन सभी संस्थाओं के प्रमुखों का चुनाव ग्रामों की जनता द्वारा कुड़बोलाई पद्धति से अर्थात् ताड़ पत्रों पर उम्मीदवारों का नाम लिखकर उन्हें बर्तन में डाला जाता था। इसके बाद इस बर्तन से एक बालक द्वारा इन मतपत्रों को निकाला जाता

था। गुप्तकाल के बाद हूण, यशोवर्मन, मैत्रिक वंशों का शासन रहा। उन्होंने प्रशासनिक व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं किए। हर्षवर्धन के समय में ग्राम के मुखिया अधिकारी का चुनाव होता था। ग्राम के प्रशासनिक गतिविधियों तथा आपराधिक गतिविधियों के निराकरण के लिए अष्टकुल अधिकरण नामक समिति अस्तित्व में थी। ग्राम के प्रभारी अधिकारी को ग्राम अक्षपटलक कहा जाता था।[10]

पंचायती व्यवस्था का सर्वथा परिष्कृत व स्वर्णिम स्वरूप दक्षिण भारत के विशेषतया चोल शासन में दिखायी देता है। चोल अभिलेखों में स्थानीय स्वशासन की मौलिक व्यवस्था का विस्तृत विवरण मिलता है। कोट्टम (गाँव) से लेकर मंडल (प्रांत) तक स्वशासन की संस्थाएं थी जो प्रशासन का कार्य देखती थी। बलनाड़ (बड़े प्रदेश) की सभा को नगस्तार, नाडु (जिले) में कार्यरत संस्था नट्टर कहलाती थी। वे प्रजातांत्रिक प्रणाली से कार्य करती थी। पंचायत तथा ग्राम सभा को व्यापक अधिकार मिले हुए थे। ग्राम सभाएं अपना कार्य अनेक समितियों के माध्यम से करती थी जिन्हें वरियम कहा जाता था। इन समितियों में स्त्रियों को भी शामिल किया जाता था।[11] सल्तनत काल में पंचायतों का स्वरूप केन्द्रीकृत नौकरशाही पर आधारित था। सुल्तान निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी हुआ करते थे जबकि मुगलकाल में मुस्लिम राजाओं ने पंचायत व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। हालांकि शेरशाहसूरी के समय स्थानीय शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव का मुखिया मुक्कदम होता था। संपूर्ण मुगल प्रांत अनेक सरकारों तथा जिलों में बंटा हुआ था। छोटी शासन इकाई परगना कहलाती थी। परगने गाँवों में विभक्त थे। गाँवों को अपने मामले में काफी स्वतंत्रता मिली हुई थी। अकबर के शासन काल में पंचायतराज संस्थाओं को काफी हद तक नैतिक एवं प्रशासनिक सहयोग प्राप्त था। अबुल फजल के अनुसार, प्रत्येक ग्राम प्रशासन के लिए ग्राम पंचायतें होती थीं जिसमें ग्राम में रहने वाले प्रमुख सदस्य सम्मिलित होते थे। ये पंचायतें ही ग्राम प्रशासन के उत्तरदायित्व को निभाती थी। मराठा काल के अनेक दस्तावेजों से ज्ञात होता है कि शिवाजी, राजाराम और साहू आदि के पास जो मामले सीधे लाए जाते उन्हें वह स्वयं न सुनकर ग्राम पंचायत के पास भेज दिया करते थे। इस प्रकार सल्तनत एवं मुगल काल में इतना सब होते हुए भी पंचायतों का अस्तित्व कमजोर ही रहा।

ब्रिटिशकालीन भारत में, यद्यपि प्रारंभ में, ब्रिटिश सरकार भारतीयों को कोई शक्ति एवं उत्तरदायित्व देने के पक्ष में नहीं थी तथापि यह भी सत्य है कि कुछ समय के पश्चात् ब्रिटिश काल

में ही पंचायतों का नया रूप उभरकर सामने आया जिसे पंचायतों का पुनरूदय कहा जा सकता है और आधुनिक पंचायत व्यवस्था का आरम्भ भी। ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्देशक ने 28 सितंबर 1628 को क्राउन की अनुमति से मद्रास कौसिंल को मद्रास में म्युनिसिपल कॉरपोरेशन गठित करने की सलाह देते हुए भारतीय को जनसुविधा उपलब्ध कराने की बात कही थी। परिणामस्वरूप 1688 में कॉरपोरेशन अस्तित्व में आया। पुनः 1726 में कलकत्ता व बंबई में तथा पुनः मद्रास में नगरपालिका के गठन के लिए दूसरा म्युनिसिपल चार्टर जारी किया गया जिसमें प्रावधान था कि एक मेयर तथा 9 सदस्य होंगे जिनमें से 7 अंग्रेजों की व्यवस्था थी। उसके बाद 1793 में संवैधानिक रूप से चार्टर अधिनियम के द्वारा मद्रास, कलकत्ता एवं मुंबई में नगरपालिकाओं का गठन किया गया। इन सबका उद्देश्य कर लगाकर कानून व्यवस्था बनाये रखना, संपत्तियों का रखरखाव करना तथा न्यायिक कार्यों का संपादन था। 1850 में अंग्रेजों द्वारा दूसरा नगरपालिका अधिनियम पारित किया गया जिसमें यह व्यवस्था थी कि इसे ऐच्छिक रूप से किसी भी नगर में लागू किया जा सकता है।[12] लेकिन उपर्युक्त सभी प्रस्ताव नगरीय प्रशासन स्थापित करने की दिशा में किए गए थे। ग्रामों में पंचायतों की ओर से कोई ध्यान नहीं दिया गया था। ग्रामों के विकास में सबसे पहले ध्यान 1863 में शाही स्वच्छता आयोग के रिपोर्ट के बाद दिया गया। पुनः 14 दिसंबर 1870 को लार्ड मेयो ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण और स्वायत्तशासी संस्थाओं के गठन के लिए कौंसिल में प्रस्ताव स्थापित करने का पहला प्रयास किया। इसका उद्देश्य प्रशासनिक क्षमता को बढ़ावा देना तथा वित्तीय साधन जुटाना था। वास्तव में भारतीय परिषद् अधिनियम 1861 द्वारा वैधानिक विकेन्द्रीकरण की नीति आरंभ की गई और मेयो का वित्तीय विकेन्द्रीकरण का प्रस्ताव उसका प्राकृतिक परिणाम था।[13] इस प्रस्ताव को ध्यान में रखकर केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा, चिकित्सा सेवाओं, सड़कों के रख–रखाव और निर्माण आदि का काम प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरिक करने तथा इस हेतु उन्हें अनुदान देने का निर्णय किया। इस प्रकार 1871 के अधिनियम के अनुसार बंबई, बंगाल, पंजाब व उत्तर–पश्चिमी प्रांतों में मेयो प्रस्ताव के बाद स्थानीय स्वायत्त प्रशासनों की स्थापना हुई। इन अधिनियमों के प्रावधानों के अनुसार उपकर (सेस) को कानूनी दर्जा दिया गया तथा व्यय को पूरा करने के लिए उन्हें बढ़ाया जा सकता था। इसमें जिला समिति के गठन की व्यवस्था थी तथा सरकारी व गैर–सरकारी सभी सदस्यों के मनोनयन आदि का उल्लेख था। जिला समिति का अध्यक्ष सरकारी व्यक्ति को बनाने का प्रावधान था। परंतु मेयो का प्रस्ताव भी सही मायनों में स्वायत्त संस्थाओं यानि पंचायतों को स्थापना

नही कर सका क्योंकि पंचायतों में जनप्रतिनिधित्व न के बराबर था और वह सरकारी व्यक्ति का जमघट बनकर रह गया।[14]

भारत में पंचायतराज व्यवस्था के विकास में 1882 का रिपन प्रस्ताव स्थानीय लोकतंत्र का महाधिकार पत्र था। इससे भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का प्रभावशाली शुभारंभ हुआ। इसमें स्थानीय बोर्डों के निश्चित कार्य तथा निश्चित आय के साधन दिए गए। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए तालुका बोर्ड अथवा जिला बोर्ड बनाए गए। इनमें जनता द्वारा निर्वाचित गैर–सरकारी सदस्यों का बहुमत होता था। सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम होता था और वह भी केवल स्थानीय संस्थाओं के कार्य की समीक्षा तथा संशोधन के लिए न कि नीति निर्धारण के लिए। हालांकि लार्ड रिपन की उपर्युक्त प्रस्ताव पूरी तरह क्रियान्वित न हो सका, पर उन्हें भारत की स्वायत्त शासन की संस्थाओं का जनक कहा जा सकता है। तमाम अवरोधों के बावजूद उनके प्रस्ताव में पंचायती संस्थाओं के गठन की दिशा में थोड़ी–बहुत प्रगति हुई परंतु 19वीं सदी के अंत में वायसराय लार्ड कर्जन ने इसे प्रभावहीन कर दिया। कर्जन की सोच थी कि भारतीयों को शक्ति एवं उत्तरदायित्व देना बेकार है क्योंकि वह शासन करना नहीं जानते। कर्जन के काल में विकेन्द्रीकरण की दिशा में प्रगति का प्रश्न ही नहीं था उल्टे सत्ता के केन्द्रीकरण को बढ़ावा मिला।[15]

अंग्रेजीकाल में सत्ता के बढ़ते केन्द्रीकरण पर चिंता व्यक्त की गई। तत्कालिक भारत सचिव विस्काउंट मोडी ने चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि वर्तमान में सरकार एवं लोगों के बीच खाई बढ़ गई है। इसे दूर करने के लिए 1907 में चार्टर्स हॉबहाउस की अध्यक्षता में शाही विकेन्द्रीकरण आयोग का गठन किया गया। शाही आयोग ने अपनी सिफारिशों में पंचायतों को वास्तव में जन–प्रतिनिधित्व की संस्थाएं बनाने और उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने की दिशा में कार्य करने हेतु संस्तुति की थी। 1909 में लाहौर में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया था कि सरकार ग्राम स्तर से ऊपर तक जन निर्वाचित स्थानीय निकाय स्थापित करने के लिए उचित कदम उठाएं। सन् 1911 की जनगणना में पता चला कि बंबई और उत्तर प्रदेश के प्रांतों में ग्राम पंचायतों का अस्तित्व भी नहीं रह गया, केवल जातीय पंचायतों के कुछ काम जारी थे। इस रपट का सारांश मार्ले–मिन्टो (1909) से लिया गया था और नौकरशाहों को उत्तरदायित्व रहित रहने दिया गया था। पुनः 1915 के शासकीय रिपोर्ट में पंचायतों के विषय में कहा गया कि पंचायतों को निश्चित कर लगाने की अनुमति दी जानी चाहिए।[16]

अंग्रेजी शासन के दौरान पंचायतों के स्वरूप निर्माण में मई 1918 का प्रस्ताव भी महत्वपूर्ण रहा। रिपोर्ट में सुझाव था कि जहां तक संभव हो सके स्थानीय संस्थाओं में पूर्ण लोकप्रिय नियंत्रण हो और बाहरी नियंत्रण से अधिकतम स्वतंत्रता हो। पुनः 1919 के भारत सरकार अधिनियम के लागू होने से स्थानीय स्वायत्त शासन एक हस्तांतरित शासन बन गया, जिसका नियंत्रण लोकप्रिय शक्ति के अधीन हो गया। हालांकि इसी बीच सन् 1919–1920 के आस–पास ग्रामीण जनता की दशा सुधारने की दो प्रमुख भारतीय योजनाएं सामने आई हैं। एक योजना मानवेन्द्रनाथ राय की 'जनता योजना' थी और दूसरी थी, महात्मा गांधी की 'ग्रामोद्धार योजना'। इसमें स्थानीय संस्थाओं और पंचायतों को अधिकार दिए गए थे।

अंग्रेजी शासन के अधीन ही जब 1920 में साइमन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह उल्लेख किया था कि उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा मद्रास के अतिरिक्त और कही ग्राम पंचायतों में उन्नति देखने को नहीं मिली थी और उसने सुझाव दिया था कि इन स्वायत्त संस्थाओं पर सरकार का नियंत्रण बढ़ा दिया जाना चाहिए क्योंकि उसने इंग्लैण्ड का उदाहरण दिया जहाँ सरकारी नियंत्रण के कारण यह संस्थाएँ अधिक अच्छा कार्य करने लगी। इस दृष्टिकोण से स्वायत्त संस्थाओं की अवस्था खराब होती चली गई।

हाँलांकि पुनः एक बार 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार प्रांतीय सरकार के स्वशासन के संचालन से स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को और अधिक गति मिली। यद्यपि 1935 के भारत शासन अधिनियम के तहत 1937 में लोकप्रिय मंत्रिमंडल का गठन हुआ और उन्होंने स्थानीय संस्थाओं को जनता का मूल प्रतिनिधि बनाने के लिए विधि निर्माण का कार्य हाथ में लिया। किन्तु दुर्भाग्यवश 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के शुरू होने से स्थानीय संस्थाओं को लोकप्रिय बनाने का मंत्रियों का शुरूआती उत्साह ठंडा पड़ गया। मंत्रियों ने विरोध स्वरूप प्रतीकात्मक त्याग–पत्र दे दिए और राज्यों में गवर्नरों का, पूरी तरह एक व्यक्ति का, शासन स्थापित हो गया। सन् 1939 से सन् 1946 तक की अवधि स्थानीय शासन के इतिहास में 'अंधकार काल' (डार्क पीरियड) माना जाता है। इस काल के दौरान ब्रिटिश भारत में प्राधिकारियों द्वारा ग्राम पंचायतें पूर्णतया उपेक्षित था।[17] इस उपेक्षा के बावजूद भी पंचायतीराज का विचार ग्राम स्वराज के रूप में स्वतंत्रता के संघर्ष हेतु एक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक कारक के साथ एक रणनीति के रूप में बना रहा।

स्वतंत्रता पश्चात्, भारत में पंचायतीराज व्यवस्था के विकास

स्वतंत्रता के बाद जब संविधान सभा में बहस प्रारंभ हुआ तो इस बात के साफ संकेत मिलता है कि उस समय के कर्णधार तत्कालीन प्रशासनिक प्रणाली में आमूल–चूल परिवर्तन करने में संकोच कर रहे थे और मध्यवर्ग के तौर पर उनकी एक सहमति यह थी कि शासन के नीति–निर्देशक सिद्धांतों में पंचायतीराज संस्थाओं की एक खास जगह होगी (भाग–IV, अनु. 40), जिसमें अन्य बातों के साथ–साथ यह प्रावधान भी किया गया कि राज्य ग्राम पंचायतों के गठन की व्यवस्था करेगा और स्वशासन की एक इकाई के रूप में सक्षम बनाने की दृष्टि से उन्हें यथा आवश्यक रूप में शक्तियाँ एवं प्राधिकार प्रदान करेगा। परिणामस्वरूप राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों के अनुपालन में सन् 1952 में ग्रामीण क्षेत्र की महत्वाकांक्षी पहल के तौर पर सामुदायिक विकास का कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम के अंतर्गत 100 से 150 गाँवों को मिलाकर एक सामुदायिक विकास प्रखंड गठित किया गया था और समूचे समुदाय की सक्रिय भागीदारी इस अनूठे प्रयोग की कुंजी थी जिसने जमीनी स्तर पर लोकतंत्र को सुदृढ़ता प्रदान की। सन् 1953 में राष्ट्रीय विस्तार सेवा प्रारंभ की गई जो कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आवर्धित रूप था और जिसका लक्ष्य ग्रामीण दस्तकारी क्षेत्रों, पशुपालन तथा कृषि आदि क्षेत्रों में अद्यतन वैज्ञानिक और तकनीकी जानकारी को हस्तांतरित करना शामिल था।[18]

वर्ष 1956 में जब दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू हुई तो इसकी सिफारिश थी कि सांगठनिक तौर पर ग्राम पंचायतों को उच्च स्तरीय लोकप्रिय संगठनों से जोड़ा जाना चाहिए और स्पष्ट तौर पर कानून व्यवस्था, न्याय प्रशासन और राजस्व प्रशासन संबंधी अन्य चुनिंदा कार्यों को छोड़कर जिले अथवा उप–प्रभाग के समस्त सामान्य प्रशासन और विकास के सभी कार्य चरणों में लोकतांत्रिक निकायों द्वारा ही अधिकृत किए जाने चाहिए। इस पहल को प्रचलनात्मक बनाने के लिए सरकार ने सन् 1957 में श्री बलवंतराय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी जिन्होंने पूरे देश में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था लागू करने हेतु अपनी सिफारिश की। बलवंतराय समिति ने पंचायतीराज के विकेन्द्रीकरण एवं सशक्तीकरण हेतु अनेक सिफारिशें की जिसका आमतौर पर स्वागत किया गया और इन्हें लागू करने हेतु कई राज्यों द्वारा पंचायतीराज विधान अधिनियमित किया गया। 1960 के दशक तक इसने देश की 90 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को ग्राम पंचायतों के अंतर्गत शामिल कर लिया। हाँलांकि प्रारंभिक तौर पर इन सिफारिशों को लेकर राज्यों ने काफी

उत्साह दिखाया तथापि पंचायतों के शक्तियां और उनके संसाधन सीमित थे और यह अपरिहार्य विचार की सभी विकास गतिविधियाँ सिर्फ ब्लॉक पंचायत समिति के माध्यम से ही निष्पादित की जानी चाहिए, धीरे–धीरे समाप्त हो गया।[19]

पुनः 1969 में राज्य प्रशासन पर अपनी रिपोर्ट में प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग ने सिफारिश की थी कि पंचायतीराज प्रणाली का मुख्य कार्यकारी अंग जिला स्तर पर 'जिला परिषद्' के रूप में ही गठित किया जाना चाहिए न कि प्रखंड स्तर पर पंचायत समिति के रूप में। उनका मानना था कि जिला परिषद् ऐसी स्थिति में है जहाँ से वे संपूर्ण जिले की संसाधनगत स्थिति और उसकी आवश्यकताओं पर बेहतर तरीके से नजर रख सकती है। सन् 1977 में पुनः एक बार पंचायतीराज संस्थाओं के कार्यों की समीक्षा करने और ग्रामीण क्षेत्रों के विकास तथा विकेन्द्रित योजना के प्रभावशाली साधन के तौर पर पंचायतीराज संस्थाओं को सुदृढ़ करने के दृष्टि से सरकार ने श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया था। इस समिति ने अपनी सिफारिश में पंचायतीराज संस्थाओं में तीन स्तर के संगठन के स्थान पर दो स्तर का संगठन की सिफारिश की जिसमें जिला स्तर पर जिला परिषद् और निम्न स्तर पर 'मंडल पंचायत' जिसे कई गाँवों को मिलाकर बनाया जाना चाहिए। अशोक मेहता समिति ने बलवंत राय के सिफारिशों में कुछ परिवर्तन किया लेकिन सरकार ने इसकी एक भी संस्तुति को स्वीकार नहीं किया। आज भी भारत में पंचायतीराज व्यवस्था बलवंत राय मेहता द्वारा सुझायी गयी सिफारिशों पर ही कार्य कर रही हैं। हालांकि इस बीच स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को सुदृढ़ बनाने संबंधी विविध पहलुओं पर गौर करने के लिए सन् 1978 से 1986 के बीच श्री सी.एच. हनुमंतराव, श्री जी.बी.के राव और श्री एल.एम. सिंघवी के अधीन समितियां गठित की गई, जिन्होंने अशोक मेहता समिति द्वारा प्रस्तावित विचारों/संरचनाओं में परिवर्तन के लिए थोड़े बहुत सुझाव भी प्रस्तुत किए। जैसे 1986 में सिंघवी समिति ने पंचायतों में नियमित चुनाव का सुझाव दिया था। इसके पश्चात् विकेन्द्रित अधिनियम में अगला महत्वपूर्ण बदलाव श्री राजीव गांधी की सरकार द्वारा जुलाई 1989 में प्रस्तुत 64वें तथा 65वें संविधान संशोधन विधेयक के माध्यम से आया, जिसमें पंचायतीराज का गठन सभी राज्यों के लिए अनिवार्य, निर्वाचन आयोग द्वारा इसका चुनाव कार्य, पंचायतों की अवधि 5 वर्ष, पंचायतें समयावधि से पूर्व भंग हो तो छः माह के अंदर चुनाव, एस.सी./एस.टी. महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण मुख्य प्रावधान थे किन्तु दुर्भाग्य यह रहा कि यह विधेयक राज्यसभा में पारित न हो सका।[20]

पुनः एक बार सन् 1990 में पंचायतीराज संस्थाओं/शहरी स्थानीय निकायों दोनों को शामिल करते हुए संसद में एक संयुक्त संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया। यह एक संरचनात्मक विधेयक था जिसमें शेष ब्यौरे राज्य सरकार द्वारा राज्य अधिनियम के द्वारा लागू किए जाने थे। यहाँ तक कि चुनाव से संबंधित मामले भी पूरी तरह से राज्य सरकार के विवेक पर छोड़ दिए गए थे। सरकार के भंग होने के साथ ही यह विधेयक भी व्ययगत हो गया। अंततः सन् 1992 में इस विषय पर पहले की समूची प्रक्रिया की महत्वपूर्ण विशेषताओं का संश्लेषण करने के बाद सरकार ने संसद में 73वां तथा 74वां संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया जिन्हें वर्ष 1993 में पारित कर दिया गया। पंचायतीराज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा देते हुए इसे संविधान के अनुच्छेद 243 से 243ङ में तथा संविधान में भाग 9 और 11वीं अनुसूची जोड़ी गई। इसके द्वारा पंचायतों के गठन, निर्वाचन सदस्यों की अर्हताएँ एवं निरर्हताएँ, पंचायतों की शक्तियाँ, प्राधिकार और उत्तरदायित्व आदि का प्रावधान किया गया। 11वीं अनुसूची में 29 विषयों का उल्लेख है जिस पर पंचायतों को विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई है। इसी प्रकार नगर पंचायत को भी संविधान के अनुच्छेद 243त से 243य छ तक एवं भाग 9क और एक नई अनुसूची (12वीं अनुसूची) जोड़कर नगर प्रशासन के विषय में विस्तृत प्रावधान किया गया है। इस अधिनियम की मुख्य विशेषता यह है कि अन्य बातों के साथ–साथ सभी स्तरों पर पंचायतों को नियमित चुनाव कराने, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण और स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति मजबूत बनाने के उपरायों सहित राज्य वित्त आयोग और राज्य निर्वाचन आयोग का प्रावधान किया गया है। इस अधिनियम द्वारा स्थापित पंचायतीराज का प्रधान लक्ष्य ग्रामवासियों में शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर उन्हें विकासमूलक प्रशासन में भागीदारी योग्य बनाना और गाँवों को सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्रदान करना है।[21]

निष्कर्ष

इस प्रकार एक लम्बे प्रयास एवं विकास के सोपान को पार करते हुए 73वें–74वें संविधान संशोधन के माध्यम से पंचायतें अपने संवैधानिक दर्जा को प्राप्त करते हुए तीन स्तरों जिला, प्रखंड और ग्राम पंचायतें गठित हुई। बाद के वर्षों में पंचायतीराज संस्थाओं ने भारत में कुछ विशेष तथा महत्वपूर्ण शक्तियां विकसित एवं अर्जित की है जिसने लोकतांत्रिक ढांचे में निर्णय और निर्देशन देने की हैसियत तक पहुंचाया है। इसने जमीनी स्तर पर ग्रामीण जनता के लिए लोकतंत्र में आधारभूत

सहभागिता का ढाँचा खड़ा किया है। इसके बावजूद अभी भी पंचायतीराज व्यवस्था के समक्ष कई चुनौतियां खड़ी हैं, जिसमें सुधार की जरूरत है। जैसे – वित्तीय संकट, अनावश्यक राजनीतिक हस्तक्षेप, बढ़ती हुई जनसंख्या, ग्राम सभा के नियमित बैठक का अभाव, पंचायतों पर नौकरशाही का नियंत्रण, आम लोगों में जागरूकता का अभाव आदि। अतः अब यह देखना है कि पंचायतें अपने कार्य, अधिकार व शक्तियों को राज्य विधान मंडल द्वारा कैसे स्पष्ट एवं साफ–सुथरे तरीके से परिभाषित कराती है।

सन्दर्भ :

1 महीपाल, पंचायतीराज, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2015, पृ. 3.
2 'निशीथ', राकेश शर्मा, पंचायतीराज, तब और अब, जाह्नवीं प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृ. 9.
3 वही, पृ. 10.
4 वही, पृ. 11.
5 महीपाल, पंचायतीराज, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2015, पृ. 4.
6 अग्रवाल, प्रमोद कुमार, भारत में पंचायतीराज, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 16.
7 'निशीथ', राकेश शर्मा, पंचायतीराज, तब और अब, जाह्नवीं प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृ. 9.
8 खत्री, हरीश कुमार, भारत में पंचायतीराज, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, 2017, पृ. 2.
9 अग्रवाल, प्रमोद कुमार, भारत में पंचायतीराज, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 16.
10 'निशीथ', राकेश शर्मा, पंचायतीराज, तब और अब, जाह्नवीं प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृ. 13.
11 वही.
12 महीपाल, पंचायतीराज, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2015, पृ. 5–6.
13 ग्रोवर, बी.एल., यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एण्ड कंपनी लि., नई दिल्ली, 1999, पृ. 361.
14 महीपाल, पंचायतीराज, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2015, पृ. 7.
15 ग्रोवर, बी.एल., यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस. चंद्र एण्ड कंपनी लि., नई दिल्ली, 1999, पृ. 361–362.
16 अग्रवाल, प्रमोद कुमार, भारत में पंचायतीराज, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 20.
17 डॉ. सिंह, रमा, भारत में पंचायती राज व्यवस्था, दिव्या इंटरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2017, पृ. 10–17.
18 फड़िया, बी.एल., स्थानीय स्वशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2021, पृ. 8.
19 वही.
20 देखें, फाइनेंशिंग द ग्रासरूट गवर्नमेंट, विजयोनी मोहंती, एपीएच पब्लिशिंग, 2001.
21 देखें, ओझा, एस.के., भारतीय संविधान एवं राज व्यवस्था, बौद्धिक प्रकाशन, प्रयागराज, 2013–14, पृ. 222–223.